Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 18, Issue No. 4, July-2021, ISSN 2230-7540

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में सांप्रदायिकता के चित्रण का अध्ययन

Alok Kumar Sen[1]*, Dr. Vandana Devi Kushwah[2]

[1] Research Scholar, Shri Krishna University, Chhatarpur M.P.

[2] Assistant Professor, Shri Krishna University, Chhatarpur M.P.

सार - *साहित्य जीवन की संचित अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब होता है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, संस्मरण इत्यादि के माध्यम से मनुष्य अपनी आंतरिक भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। समाज में घटने वाली घटनाओं से रचनाकार आंदोलित होता है और शब्दों के माध्यम से उसे अंकित कर वापस समाज को दे देता है। सहृदय पाठक इन भावनाओं के साथ जुड़ा हुआ महसूस करता है। उपन्यास की खासियत यह है कि इसमें मनुष्य के पूरे जीवन का लेखा जोखा प्रस्तुत किया जा सकता है। उपन्यास का कैनवास काफी बड़ा होता है जिसमें जीवन की कई घटनाओं का चित्रांकन एक साथ हो सकता है। सांप्रदायिकता एक वैश्विक समस्या है जिसका निदान हर कीमत पर होना जरूरी है। जब तक यह समस्या रहेगी तब तक स्वस्थ समाज का विकास संभव नहीं होगा। हिन्दी के साहित्यकारों की सबसे बड़ी चिंता समतामूलक स्वस्थ समाज का विकास है। स्त्री, दलित, अल्पसंख्यक इत्यादि की गूजें हिन्दी साहित्य में सुनने को मिलती हैं जो स्वंय हिन्दी साहित्य के प्रगतिशील नजरिये को दर्शाती हैं। सांप्रदायिकता के विभिन्न पहलुओं को हिन्दी के कथाकारों ने देखा, परखा और अभिव्यक्त किया है। अतएव इसे देखना अत्यंत आवश्यक है कि हिन्दी के कथाकारों ने सांप्रदायिकता के किन-किन पहलुओं को उठाया है और सांप्रदायिकता को किस-किस रूप में देखा है। अब तक हुए शोध-कार्यों में सांप्रदायिकता को केवल धर्म के नजरिये से देखने की कोशिश हुई है जबकि इसके पीछे और भी कई कारण मौजूद हैं।*

मुख्यशब्द - *समकालीन हिन्दी उपन्यास, सांप्रदायिकता के चित्रण, वैश्विक समस्या, समाज का विकास*

----------X----------

प्रस्तावना

हिन्दी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का चित्रण किस प्रकार हुआ है और कथाकारों ने सांप्रदायिकता के किन पहलुओं को उपन्यासों में ठहराया है यह देखना आवश्यक है। परन्तु उससे भी पहले यह देख लेना आवश्यक जान पड़ता है कि भारतीय समाज में सांप्रदायिकता किस रूप में पनपी है। स्वाधीनता के बाद हिन्दुस्तान का विभाजन हुआ और भारत एवं पाकिस्तान अस्तित्व में आये और यह माना जाने लगा कि अब भारतीय समाज से सांप्रदायिकता स्वंय खत्म हो जायेगी, लेकिन देखा यह गया है कि सांप्रदायिकता दिनोंदिन बढ़ती गयी। आखिरकार स्वाधीनता के बाद वे कौन सी परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण सांप्रदायिकता बढ़ती चली गयी। इन सभी बिन्दुओं के मद्देनजर सांप्रदायिकता का विश्लेषण आवश्यक है।

स्वतंत्रतापूर्वक भारतीय समाज और सांप्रदायिकता

स्वतंत्रतापूर्वक भारतीय समाज में सांप्रदायिकता के मुद्दों पर विचार करते हुए बहुसंख्यक सांप्रदायिकता के समर्थक विद्वान मध्यकाल की ओर दौड़ लगाते हैं और मुगलिया सल्तनत के दौर में जाककर सांप्रदायिकता के बीज ढुँढ़ लाते हैं। मध्यमकाल को हिन्दु जाति के दमन का काल घोषित कर मुसलमानों के खिलाफ साधारण जनमानस के दिमाग में बैर का बीज बोने का प्रयास किया गया। वहीं दूसरी ओर मुस्लिम कट्टरपंथियों ने भी मध्यकाल को ही चुना। इसका कारण यह था कि मध्यकाल में मुसलमानों की पहचान शासकों के रूप में रही है। अंग्रेजों द्वारा शासन की बागड़ोर अपने हाथों में लेने के बाद भी अपने इस गुमान से बाहर न आ सके। जहाँ एक ओर हिन्दू राष्ट्रवादी, मुसलमानों को आक्रमणकारी कहकर उन्हें विदेशी घोषित करने में लगा हुआ था वहीं मुस्लिम राष्ट्रवादी, अपने पिछड़ेपन का कारण अपनी शिक्षा संबंधी कट्टर सोच को न मानकर हिन्दुओं को ही इसका दोषी मान रहा था।

www.ignited.in

साथ ही औपनिवेशिक शक्ति के विरोध की जिस नीति का अनुसरण किया गया उसमें भी कई खामियाँ जरूर थीं।

गोलवलकर और विनायक दामोदर सावरकर जैसे विद्वानों का यह विचार रहा है कि मध्यकाल में मुसलमानों के आगमन के पूर्व भारत सोने की चिड़िया था। जिस दौर में मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया उसे ही तथाकथित हिन्दुत्ववादी भारत और हिन्दु जाति के पतन का दौर मानते हैं। जबकि मुसलमानों के आने के बहुत पहले आर्य भारत आ चुके थे। फिर हूण, मंगोल, अफगान और न जाने कितने विदेशी आक्रमणकारी आये। कुछ लूट-मार करके चले गये तो कुछ यहीं भारत में बस गये। धीमे-धीमे भारतीय संस्कृति में कुछ इस प्रकार घुल-मिल गये जैसे आटे में नमक और पानी में चीनी घुल जाती है। भारतीय संस्कृति की कुछ खूबियों को अपनाया तो दूसरी तरफ अपनी संस्कृति से भारतीय संस्कृति को प्रभावित भी किया। ऐसे में दोनों ही संस्कृतियों के मूल स्वरूप में परिवर्तन आ गया। जो संस्कृति नवीनता को अपनाने को तैयार होती है वह उतनी ही विकासमान बनती है और जो संस्कृति स्वंय को परिपूर्ण और समृद्ध मानकर नये विचारों एवं किसी भी बदलाव को ज़िद के स्तर तक अस्वीकार करती हैं उसमें विकृति आनी ही है जैसे एक निश्चित घेरे में रहने के कारण तालाब का पानी स्वच्छ और निर्मल नहीं रह पाता। ऐसी संस्कृति एक न एक दिन पूरे जनसमुदाय के लिए घातक बन जाती है।

भारत जैसे सांस्कृतिक वैविध्य वाले देश की भी मुख्य समस्या यही है। सांप्रदायिकता के बीज मध्यकालीन भारत में खोजने के कारण भी समस्या पैदा होती है। दरअसल सांप्रादयिकता की शुरूवात सन् 1857 के विद्रोह के बाद हुई। अंग्रेज शासकों ने 1857 के गदर के दौर में हिन्दुओं एव मुसलमानों की संगठित शक्ति को पहले ही भाँप लिया था। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि अगर उन्हें भारत पर अपना अधिपत्य लंबे समय तक बनाये रखना है तो भारत की इन दोनों कौमों के बीच आपसी वैमनस्य के बीज बोने पड़ेंगे। इस कारण अंग्रेजों ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को अपनाया जिसके तहत सबसे पहले अंग्रेजों ने उसे साझा इतिहास को विकृत करना प्रारम्भ किया जिस पर हिन्दुस्तानियों को बड़ा ही गर्व था। अपने इस अभीष्ट की पूर्ति के लिए अंग्रेज शासकों ने इलियट और डाऊसन जैसे इतिहासकारों का पल्ला पकड़ा। इतिहासकार असगर अली इंजीनियर के ही शब्दों में -"अंगेजों ने इतिहास लेखन के लिए इलियट और डाऊसन की सेवाएँ लीं और उन्होंने फारसी से चुनिन्दा स्त्रोतों का अनुवाद करके ऐसी सामग्री मुहैया करवाई जो यक सिद्ध करती थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच शाश्वत लड़ाई है। इन दो अंग्रेज इतिहासकारों ने प्रारम्भिक भारतीय इतिहास लेखन को काफी प्रभावित किया। अंग्रेजों द्वारा इतिहास का 'हिन्दू' 'मुस्लिम' और 'अंग्रेजी' के रूप में काल-विभाजन धूर्ततापूर्ण था। ऐसे काल-विभाजन में पहले के युगों की पहचान धर्मों से की गई जबकि अपने काल को उन्होंने राष्ट्रीयता से पहचान।।"

स्वतंत्रतापूर्व भारतीय समाज और सांप्रदायिकता पर विचार करते हुए यह बात सामने आती है कि जिस औपनिवेशक इतिहास का विरोध सर्वाधिक होना चाहिये था, राष्ट्रवादियों ने, चाहे वह हिन्दू राष्ट्रवादी हो या मुस्लिम राष्ट्रवादी, उसी भ्रम एवं गलत तथ्यों से भरे हुए इतिहास का इस्तेमाल अपने स्वार्थ साधनो के लिए किया जो आज भी बदस्तूर जारी है। एक आम हिन्दुस्तानी आज भी उसी इतिहास को ढ़ो रहा है जिसे स्वाधीनतापूर्व का हिन्दुस्तानी ढ़ो रहा था। इतिहासकार बिपन चंद्र कहते हैं -"कि भारतीय इतिहास का प्राचीनकाल गौरव और महानता का युग था और मध्यकाल से भारत का पतन शुरू हुआ। इसी तरह मुस्मिल लीग और विनायक दामोदर सावरकर ने तो दो राष्ट्र सिद्धांत की रचना बहुत बाद में की जिसके आधार पर आगे चलकर भारत विभाजित हुआ, मगर उसके बहुत पहले ब्रिटिश उपनिवेशवादी लेखकों और उनका अनुसरण कर रहे सांप्रदायिक लेखकों ने यह कमाल कर दिखाया था। इन लोगों ने यह प्रचार किया कि भारत राष्ट्र का मतलब हिन्दू राष्ट्र है और मध्यकालीन मुस्लिम शासन विदेशियों का था। आखिर एक भारतीय बादशाह क्या सिर्फ इसलिए विदेशी करार दे दिया जाएगा क्योंकि उसका धर्म इस्लाम है ? इसका जवाब भी सांप्रदायिक विचारधारा में विश्वास करने वालों के पास मौजूद है। वे कहते हैं कि मुस्लिम तो परिभाषा के स्तर पर ही विदेशी माने गए हैं। इस तरह सांप्रदाकियता के विस्तार और देश के विभाजन का आधार इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या में निहित है और यह व्याख्या पहले ब्रिटिश लेखकों ने की और उसके बाद हिन्दूमुस्लिम सांप्रदायिक लेखकों ने।-"

असगर अली इंजीनियर ने स्पष्टतापूर्वक स्वीकार किया है कि औपनिवेशिक शासन के इतिहासकार इलियट, डाऊसन इत्यादि ने इतिहास का विभाजन धर्म के आधार पर किया। उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास को हिन्दू राज्य, मध्यकालीन भारतीय इतिहास को इस्लामी शासन कहकर विभाजित किया जबकि आधुनिक भारत के इतिहास को ब्रिटिश राज का नाम दिया। एक हद तक तो अंग्रेजो ने हिन्दुत्ववादियों को यह भरोसा दिलाने का प्रयास किया कि

www.ignited.in

उनके आगमन से भारत की हिन्दू जनता को मुसलमान शासकों के शासन से मुक्ति मिली है। हिन्दुओं को यह भरोसा दिलाने का प्रयास किया गया कि अगर मुसलमान फिर से शासन की बागडोर संभालने लगे तो पुनः हिन्दुओं का दमन निश्चित है। एक ओर जहाँ इन्होंने यह कहकर हिन्दुओं को भड़काया वहीं मुसलमानों को भारत की हिन्दू जनता से अलग बताते हुए उनकी संस्कृति, पूजा पद्धति, खान-पान, रहन-सहन इत्यादि समस्त चीजों को अलगाते हुए भड़काने का प्रयास किया। उनके लिए अलग व्यवस्था की सोच को पुष्ट करने का कार्य किया। इस प्रकार अंग्रेज शासकों ने आपसी वैमनस्य के बीज बोये। इस घटना पर अपनी राय देते हुए बिपन चंद्र लिखते हैं- ''एक, उसने हिन्दुओं, मुसलमानों और सिक्खों को लगातार ऐसे अलग-अलग समुदायों का दर्जा दिया, जिनकी सामाजिक-राजनीतिक पहचान में कुछ भी साझा नहीं था। बताया गया कि भारत न तो राष्ट्र है, न राष्ट्र के रूप में उसका विकास हो रहा है और न वह विभिन्न जातीयताओं का समुच्चय है- उसका गठन तो धर्म पर आधारित ऐसे समुदायों से हुआ है, जिनके हित आपस में टकराते हैं। दो, सांप्रदायिकतावादियों को सरकारी संरक्षण और रियायतें दी गईं। तीन, सांप्रदायिक पत्रों, व्यक्तियों और आंदोलनों के प्रति असाधारण सहिष्णुता दिखलाई गई। चार, सांप्रदायिक माँगों को तुरंत स्वीकार कर लिया जाता था और इस तरह सांप्रदायिक संगठनों को मजबूती दी जाती थी तथा लोगों पर उनकी पकड़ बनी रहती थी। ... पाँच, ब्रिटिश सरकार सांप्रदायिक संगठनों और नेताओं को उनके तथाकथित समुदायों के प्रमाणिक प्रवक्ता के रूप में तत्काल स्वीकार कर लेती थी, जबकि राष्ट्रवादी नेताओं को एक छोटे-से वर्ग या विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधि माना जाता था। छह, सांप्रदायिक आधार पर बनाए गए चुनाव क्षेत्रों में, जिनकी चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी, सांप्रदायिक राजनीति के विकास में महत्वपूर्ण औज़ार का काम किया।''

नयी शिक्षा पद्धति से जुड़कर ही भारतीय समाज में राष्ट्र की चेतना का प्रसार भी होने लगा। इसके साथ ही भारतीय जनता में राष्ट्रवादी विचारों का भी जन्म होने लगा। तत्कालीन प्रशासन इसे अच्छी तरह से समझ चुका था इसलिए उन्होंने राष्ट्रवादी विचारों को पनपने से रोका और उसे विकृत भी किया। भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन की विडंबना यह है कि भाषा से होते हुए यह धर्मआधारित हो - गया। जिस कारण भारत एक राष्ट्र के रूप में न उभर कर दो राष्ट्र के रूप में उभरा जो अन्ततः देश विभाजन का कारण बना। यह प्रक्रिया आजादी के बाद भी बदस्तूर जारी थी। खालिस्तान की माँग हो या फिर राष्ट्रभाषा के नाम पर अलग राष्ट्र की माँग पर मचा बवाल हो, यह सब राष्ट्रवादी विचारों की कमज़ोर बुनियाद के कारण ही भारतीय समाज को देखना पड़ रहा है। भाषा को अलग सभ्यता का मुद्दा बनाकर अलग राष्ट्र की माँग किया जाना गलत है।

वस्तुतः राष्ट्रवाद और धर्म का आपस में कोई मेल नहीं होता है लेकिन औपनिवेशिक ताकतों ने धर्म को राष्ट्रवाद के साथ जोड़कर राष्ट्रवाद की मूल विचारधारा को नष्ट किया। यह कार्य भारत जैसे बहुधार्मिक राष्ट्र में बहुत ही आसान था। धार्मिक अल्पसंख्यकों के मन में हमेशा बहुसंख्यकों को लेकर संशय बना रहा और अंग्रेजो ने इसे समय-समय पर हवा देने का कार्य किया। राष्ट्रवादी विचारों को जब कभी हिन्दुओं ने बढ़ावा देने की कोशिश की तो उनके पास एक लंबा अतीत था क्योंकि उनकी जड़ें यहीं भारत में मौजूद थीं लेकिन जब कभी मुसलमानों ने राष्ट्रवादी विचारों को बढ़ावा देने की कोशिश की तो एक अज़ीब तरह का संशय उनके मन में था क्योंकि उनकी जड़ें भारत के बाहर थीं। इस स्थिति के संबंध में प्रियंवद कहते हैं- ''हिन्दु जब धर्म की बात करता था तो राष्ट्र उसमें स्वंय ही समाहित हो जाता था। इतिहास, परम्पराएँ, भूगोल, समाहित रहते थे। उसके धर्मयुद्ध उसे 'राष्ट्रवाद' में बदल देता था। दूसरी तरफ जब मुसलमान अपने धर्म की बात करता था तो राष्ट्र उसमें नहीं दिखता था। यहाँ का इतिहास, यहाँ की परम्पराएँ, नायक नहीं दिखते थे। उसका धर्मयुद्ध राष्ट्रवाद न होकर 'साम्प्रदायिक' व 'अन्य' की सत्ता में बदल जाता था। इस तरह भारतीय राष्ट्रवाद के अभार में 'हिन्दू' सक्रिय व सुरक्षित था पर मुसलमान संकट में, था। उसके किसी नेता के पास, उसकी किसी पुस्तक में, इतिहास में, ऐसी स्थितियों के लिए स्पष्ट निर्देश नहीं थे कि जब सत्ता इस्लाम की न हो, तब संघर्ष इस्लाम की स्थापना का किया जाए या राष्ट्रवादी चेतनाओं की स्थानीयताओं, विरोधी धर्म और निष्ठाओं से जुडकर उनके लिए संघर्ष किया जाए। भारत के मुसलमानों के लिए यह नया संकटपूर्ण पड़ाव था।''

राष्ट्रवादी विचारों का प्रारम्भ अंग्रेजी शिक्षा के संपर्क में आने से हुआ। बंगाल इसके केन्द्र में था क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा का सर्वाधिक प्रचार बंगाल में ही हुआ था। राष्ट्रीयता प्रोत्साहन समिति, हिन्दू मेला, नेशनल सोसाइटी आदि का गठन किया गया जिसमें शिल्प एवं कला की प्रदर्शनी, शारीरिक व्यायाम आदि सिखाये जाते थे एवं जिनके माध्यम से राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार किया गया। बाल गंगाधर तिलक ने इन्हीं की देखा-देखी महाराष्ट्र में भी ऐसे ही शिविरों का आयोजन किया जो कालान्तर में आर.एस.एस. की भावनाओं के प्रचार का प्रमुख साधन बन

www.ignited.in

गयी। इस दौर में जो राष्ट्रवाद की भावना से साहित्य रचा जा रहा था उस पर भी हिन्दुत्ववादी विचारों का प्रभाव देखा गया। इस दौर के साहित्य में भी जिस स्वर्णिम अतीत को ध्यान में रखकर जनजागरण फैलाने का प्रयास किया गया उसने भी जाने-अनजाने हिन्दू-मुस्लिम एकता को क्षति पहुँचायी। लेखकों के सम्मुख जो इतिहास मौजूद था उसमें मुस्लिम ही खलनायक थे। उन्हें ही प्रतीक बनाकर पेश किया गया। उन्हें मलेच्छ कहकर सम्बोधिक किया गया। विदेशी आक्रांता कहा गया और देशवासियों को इन आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए एकत्रित होने का आह्नान किया गया।

स्वातंन्न्योत्तर भारतीय समाज और सांप्रदायिकता

भारत की स्वतंत्रता भारतीय समाज का एक निर्णायक मोड़ था। प्राचीन सांस्कृतिक, सामाजिक रूप में एक गौरवपूर्ण इतिहास भारत के पास था, वहीं दूसरी तरफ आज़ादी के ठीक पहले विभाजन और सांप्रदायिक दंगे उसके वर्तमान पर कालिख पोत रहे थे। विभाजन के तत्काल बाद भारत में रहने वाले उन मुसलमानों की स्थिति सोचनीय हो गयी थी जो विभाजन के बाद पाकिस्तान न जा सके। भारत में वे किसी भी प्रकार की बराबरी की माँग न कर सके क्योंकि मुस्लिम लीग का साथ देकर और पाकिस्तान की माँग करके स्वंय को मुख्यधारा से अलग रखकर ऐसी किसी भी माँग करने का नैतिक अधिकार उनके पास न था। दूसरी ओर पूरे भारत की जनता मुसलमानों को भारत विभाजन का जिम्मेदार मानकर उन्हें गद्दार करार दे रही थी। स्वाधीनता की लड़ाई के दौरान लगातार पाकिस्तान की माँग रखकर भारतीय मुसलमानों ने एक इस्लामिक राष्ट्र का न केवल स्वप्न देखा बल्कि राष्ट्रीय आंदोलन को लगातार कमजोर भी किया। जब पाकिस्तान का निर्माण एक हकीकत बनकर सामने आया तब यह बात भी उनके सामने आ गयी कि देश का हर मुसलमान पाकिस्तान का निवासी नहीं बन सकता। भारतीय मुसलमानों को ऐसे में ज़ाहिराना तौर पर घोर निराशा हुई। ऐसे में वे क्या करें उन्हें समझ में नहीं आ रहा था। एक ओर पाकिस्तान था जहाँ वे जा नहीं सकते थे तो दूसरी ओर हिन्दुस्तानियों के साथ वे दूसरे दर्जे का नागरिक बनकर रह नहीं सकते थे।

विभाजन के तत्काल बाद ही भारतीयों और खासकर मुसलमानों का मोहभंग हुआ। जब तक वे इस बात से अवगत होते कि अलग राष्ट्र की माँग व्यर्थ है तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इसका खामियाज़ा भी उन्हें भुगतना पड़ा। एक ओर विभाजन के दौर में बहू-बेटियों की इज्जत तो गई ही, आर्थिक रूप से विपन्नता ने भी उन्हें घेर लिया। साथ ही देशवासियों के अविश्वासा के पात्र बने वह अलग। भारत में रहकर ही बेगानों सी जिंदगी उन्हें जीनी पड़ी। आज भी कदम-कदम पर मुसलमानों को अपनी राष्ट्रभक्ति का प्रमाण देना पड़ता है। सत्ता के मद में चूर नेताओं ने अंग्रेजों की 'बांटो और राज करो' की नीति का अनुसरण किया और सांप्रदायिकता की समस्या लगातार गहराती गई।

हिन्दी उपन्यासों में सांप्रदायिकता का सवाल

साहित्यकार समाज का सजग प्रहारी होता है। समाज की हर छोटी से छोटी घटना साहित्यकार की भाव तंत्रियों को झंकृत करती है। वास्तव में सच्चा साहित्यकार स्वंय को समाज से काटकर अलग रख ही नहीं सकता। यदि वह ऐसा करता है तो न तो उसके साहित्य का कोई मूल्य रह जाता है और नही उसे साहित्य के धरातल पर कोई स्थान मिल सकता है। समाज में हो रहे हर परिवर्तन पर उसकी नजरें होतीं है, और उन परिवर्तनों के होने वाले दूरगामी प्रभावों से अपने पाठकों को अवगत कराता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक साहित्यकार के हाथों में समाज की नब्ज होती है लेकिन एक साहित्यकार का कार्य समाज की अवस्था जैसा है दूसरे शब्दों में कहें तो साहित्य जनता से लिया गया, जनता के लिए रचा गया सर्जनात्मक प्रयास होता है। इस प्रयास के तहत स्वतंत्रापूर्व एवं स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय समाज में सांप्रदाकियता के बढ़ते चरण को भारतीय भाषा के रचनाकारों ने पहचाना, उससे विचलित हुए और इस समस्या पर अपनी लेखनी चलाई। हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं-कविता, कहानी, नाटक, निबंध और उपन्यासों में सांप्रदायिकता पर रचनाकारों ने अपनी लेखनी चलाई है। यहाँ इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है कि हिन्दी उपन्यासों में किस प्रकार सांप्रदायिकता की समस्या को उठाया गया है? कि उन तत्वों की सही-सही शिनाख्त हुई है या नहीं जो सांप्रदायिक विचारधारा को फैलाने के लिए जिम्मेदार हैं?

हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक अथवा शैशवकाल में शिक्षाप्रद एवं सुधारवादी उपन्यास देखने को मिलते हैं। राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू' नामक उपन्यास 1881 ई. में लिखा गया। इस उपन्यास की केन्द्रीय समस्या गोवध है जिसे तत्कालीन समाज की समस्या के रूप में देखा गया है। इस उपन्यास में यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि अंग्रेज सन् 1857 की क्रांति के बाद इस तथ्य से अच्छी तरह वाकिफ हो चुके थे कि यदि उन्हें भारत पर अपना शासन कायम रखना है तो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विभाजन के बीज बोने पड़ेंगे। यह विभाजन धर्म के माध्यम से बड़ी ही आसानी से खड़ा

www.ignited.in

किया जा सकता है। गाय हिन्दुओं के लिए पूजनीय थी इसलिए तत्कालीन समाज में गोवध एक संवेदनशील वस्तु थी। वहीं बकरीद के समय गाय की कुर्बानी धार्मिक विश्वास की बात मुसलमानों के लिए बन जाती थी। इस कारण बकरीद के समय दंगे होने लगते थे। अंग्रेज न केवल मुसलमानों का पक्ष लेते थे बल्कि उन्हें भड़काते भी थे। इस उपन्यास में राधाकृष्ण दास ने मौलवी अब्दुल अजीज जैसे मुसलमान पात्र की सृष्टि की है जो गोवध रोकने का प्रयास करता है और इस क्रम में अपनी जान भी गँवाता है। अब्दुल अजीज 'गोहितकारीणी सभा' का सभापति चुना जाता है। वह साफ-साफ कहता है कि पाक कुरान में गोकुशी करना वर्जित है।

इस उपन्यास में हाजी अताउल्ला जैसे धर्मांध चरित्र भी हैं जो न केवल गोकुशी को जायज मानते हैं बल्कि इसके लिए मुसलमानों को भड़काते भी हैं। अब्दुल अजीज से तंग आकर और गोकुशी के विरोध में उसे खड़ा देखकर धर्मांध मुसलमानों के साथ उसके घर पर हमला कर देता है जिसमें अब्दुल अजीज, उसकी पत्नी और उपन्यास का नायक मदनमोहन मारे जाते हैं। इस दंगे में हाजी अताउल्ला भी अपने आक्रमणकारी साथियों के साथ जान गवां बैठता है। इस उपन्यास पर मुख्य रूप से भारतेन्दु का प्रभाव मानते हुए मधुरेश कहते हैं- ''हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द की दृष्टि से भारतेन्दु स्वंय एक सजग रचनाकार होने का परिचय देते हैं। यह उपन्यास 'गोवध' की समस्या को केन्द्र में रखकर लिखा गया है लेकिन इसका प्रशंसनीय पक्ष यह है कि यह किसी रूढ़ हिन्दू या धार्मिक दृष्टि के उत्साहपूर्ण समर्थन से मुक्त हैं। इसका नायक मदनमोहन गो-वध रोकने के लिए प्रयत्नशील हैं। उसके इस काम में उसका एक मुस्लिम मित्र अब्दुल अजीज उसकी सहायता करता है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्प्रदायों में ऐसे लोग हैं जो इस समस्या को भिन्न और कट्टर दृष्टि से देखने के कारण इन दोनों के ही विरोधी हो जाते हैं। अपने लिए निश्चित किए गए लक्ष्य और कार्यभार के लिए दोनों मित्र अपने को बलिदान कर देते हैं।''

निष्कर्ष:

भारतीय समाज में सांप्रदायिक विचारों के लिए औपनिवेशिक शासन व्यवस्था ज्यादा जिम्मेदार थी उसने ऐसी नीतियाँ अपनाई जिससे भारतीय समाज में विभाजन खड़ा किया जा सके। पूरी तरह से औपनिवेशिक शासकों को सांप्रदायिकता के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इसके लिए बहुत हद तक भारतीय जनता भी जिम्मेदार थी जिसने बुद्धि से काम न लेकर हृदय से काम लिया। जब व्यक्ति के विवेक पर उसका मन हावी हो जाता है तो ऐसे ही भयानक परिणाम देखने को मिलते हैं। आजादी के बाद देश के संसाधनों पर अपना कब्जा जमाने का सबसे सरल उपाय था राजनीति में प्रवेश करना। स्वार्थी, लालची, भ्रष्टाचारी लोगों का प्रेवश भारतीय राजनीति में हुआ जिसने सत्ता पर कायम रहने के लिए सत्ता हासिल करने के लिए सांप्रदायिक विचारों को हवा दी। अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का इन नेताओं ने जमकर प्रयोग किया और आज भी कर रहे हैं। सांप्रदायिकता दिनों दिन बढ़ रही है। हिन्दी के कथाकारों ने सांप्रदायिक वैमनस्य के भयावह परिणामों को बहुत पहले ही भांप लिया था। इसलिए लंबे समय से वे सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार करने वाली ताकतों के मुखौटों को हटाकर भारतीय जनता को उनसे अवगत कराते रहे हैं। राधाकृष्ण दास से लेकन ममता कालिया तक हिन्दी उपन्यासकारों ने सांप्रदायिकता के पीछे मौजूद आर्थिक एवं राजनैतिक कारणों की तलाश की है और यह प्रमाणित किया है कि धर्म, जाति, वर्ण, भाषा और क्षेत्र वे हथियार हैं जिनके माध्यम से आजादी के पहले से लेकर आजादी के बाद तक वैमनस्य खड़ा किया गया है जबकि इसके पीछे मौजूद सांप्रदायिक शक्तियाँ या तो सत्ता हथियाना चाहती है या फिर आर्थिक संसाधनों पर अपना कब्जा जमाना चाहती हैं। इन उपन्यासकारों ने सांप्रदायिक दंगों की भयावहता का ही चित्रण नहीं किया बल्कि संकट के क्षणों में भी ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जो अपने भीतर मौजूद मानवीयता के गुणों को समाप्त होने नहीं देते। ऐसे पात्रों के कारण ही यह आस बनी रहती है कि कभी न कभी ऐसा समय आयेगा जब सांप्रदायिक वैमनस्य के बादल छँट जायेंगे और एक नयी सुबह होगी, एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसमें आने वाली पीढ़ी में आपसी प्रेम के बीज बोय जायेगे और चारों ओर समानता की फसल लहरायेगी।

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

1. कंचन साम्प्रदायिकता के बदलते चेहरे, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 2004.
2. कमलेश्वर, नई कहानी की भूमिका, ईशान प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991.
3. कमलेश्वर, हिंदुत्व बनाम हिंदुत्व, कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली, 2004.
4. कविता, वह सुबह कभी तो आएगी, अरु पब्लिकेशन प्रा. लि. नई दिल्ली, 2008.

www.ignited.in

5. कोलख्यान, प्रफुल्ल साहित्य समाज और जनतंत्र, आनंद प्रकाशन, कोलकाता, 2003.

6. खां, डॉ. मुहम्मद फिरोज, मुस्लिम समाज और हिंदी उपन्यास, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, 2003.

7. चन्द्र, बिपन, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिंदी माध्यम कार्यान्वन निदेशालय, दिल्ली विश्वविधालय, दिल्ली, 2006.

8. चन्द्र, बिपन, साम्प्रदायिकतारू एक अधययन, अनामिका पब्लिकेशन एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली 2004.

9. चतुर्वेदी, महेंद्र गाँधी, नेहरु, टैगोर और आंबेडकर, बोहरा पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर, इलाहाबाद, 2007.

10. जकारिया, डॉ. रफीक, बढती दूरियाँरू गहराती दरार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003.

11. जोशी, ज्योतिष, उपन्यास की समकालीनता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2007.

12. ठाकुर, खगेन्द्र, प्रेमचंद प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट (इंडिया), नई दिल्ली. 2006.

13. तिवारी, डॉ. रामचंद्र, हिंदी का गध साहित्य, विश्वविधालय प्रकाशन, वाराणसी, 2004.

14. थापर रोमिला इतिहास की पुनर्व्याख्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004.

15. दत्त, रजनी पाम (अनु.- आनंदस्वरूप वर्मा), आज का भारत, मैकिम्लन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली 2001.

16. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005.

Corresponding Author

Alok Kumar Sen*

Research Scholar, Shri Krishna University, Chhatarpur M.P.

www.ignited.in